



ISSN: 2249-894X  
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)  
UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514  
VOLUME - 8 | ISSUE - 8 | MAY - 2019



## हिंदी समाचार पत्रों की आर्थिक विकास दृष्टि

डॉ. विनय भूषण

सहायक प्रोफेसर, झारखण्ड केन्द्रीय विश्वविद्यालय.

### सारांश

हिंदी समाचार पत्रों ने प्रसार और लोकप्रियता के मामले में तो हिंदी पट्टी में अपनी पैठ बनाया लेकिन आज भी यह क्षेत्र आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ है। इन समाचार पत्रों की विकास दृष्टि आर्थिक विकास के विभिन्न पहलुओं को उठा रहा है और इनके विश्लेषण विकास के अनेक विरोधाभाषों को भी रेखांकित कर रहे हैं।

### भूमिका

भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में विकास के जो आयाम उभर कर सामने आये वे एक ओर तो हमें बताती हैं कि हम विकास की ओर काफी तीव्र गति से बढ़ रहे हैं और हमारा भविष्य उज्वल है। किसी भी विकास के मॉडल में यह आवश्यक है कि वह देश में गरीबी को भले ही न मिटा सके, लेकिन उसमें कमी तो जरूर लाए। हमारे समाचार पत्र वर्तमान विकास के मॉडल में इसे नहीं देख पा रहे हैं। लेकिन समाचार पत्रों के संपादकीय पृष्ठों के विश्लेषण में इनकी वास्तविक स्थिति सामने आती है।

हिंदी पट्टी के हिंदी समाचार पत्रों का चयन इस उद्देश्य से किया गया है, क्योंकि भारत एक विकासशील देश है, और इस विकासशील देश में भी हिंदी पट्टी के नाम से जाना जाने वाले हिंदी प्रदेशों जिनमें बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, झारखंड, छत्तीसगढ़, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड आदि राज्य शामिल हैं, में हरियाणा को छोड़कर शेष सभी राज्य आर्थिक रूप से पिछड़े राज्यों की श्रेणी में आते हैं और इन्हें बीमारु राज्यों की संज्ञा भी दी जाती है। यहां आज भी गरीबी, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, सामाजिक

आदि की समस्या देश के अन्य राज्यों की अपेक्षा कुछ ज्यादा ही विकराल रूप में मौजूद हैं। हालांकि कुछ गैर हिंदी प्रदेश यथा उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश एवं संपूर्ण उत्तर पूर्व भी कुछ वैसी ही, या कहें तो कई मायनों में हिंदी पट्टी के राज्यों से भी बुरी स्थिति का सामना कर रहे हैं। लेकिन हमारा फोकस केवल हिंदी प्रदेश पर ही है।

### शोध उप-कल्पना

हिंदी समाचार पत्रों ने आर्थिक विकास को विकास का महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं माना और इस पर जनता एवं सरकार का

ध्यान आकृष्ट नहीं करा पायी है।

### शोध का उद्देश्य

हिंदी पट्टी में जनसंचार के सबसे व्यापक और प्रभावशाली माध्यम के रूप में हिंदी समाचार पत्र ही हैं, क्योंकि भाषाई एवं आर्थिक रूप से यह लोगों की पहुंच में है, साथ ही साथ इनकी प्रसार संख्या भी व्यापक क्षेत्र तक है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर ही हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि हिंदी पट्टी में प्रसार संख्या एवं वैचारिक रूप से अपने को स्थापित करने वाले अखबारों के संपादकीय पृष्ठों ने अपनी वैचारिक भूमिका का निर्वहन सही रूप में किया है या नहीं? ये संपादकीय पृष्ठ में आर्थिक विकास को मुख्य मुद्दे के रूप में देख पा रहे हैं या नहीं।

### शोध प्रविधि

इस शोध पत्र में हिंदी के छः समाचार पत्रों -हिंदुस्तान, दैनिक जागरण, राजस्थान पत्रिका, प्रभात खबर, राष्ट्रीय सहारा और जनसत्ता के फरवरी तथा मार्च 2011 के अंकों में प्रकाशित संपादकीय पृष्ठों के संपादकीय एवं संपादकीय आलेखों का गुणात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। विषय का वस्तुनिष्ठ एवं गुणात्मक विश्लेषण करने एवं समय की सीमितता के कारण ऐसा करना पड़ा है। इस शोध में गुणात्मक विश्लेषण शोध-प्रविधि को विषय की मांग के अनुरूप अपनाया गया है, क्योंकि मात्रात्मक विश्लेषण शोध-प्रविधि से संकलित एवं चयनित सामग्रियों का सही विश्लेषण संभव नहीं था। प्रारंभ में संपादकों से साक्षात्कार प्रविधि को भी सहयोगी सामग्री के रूप अपनाने की कोशिश की गई लेकिन आगे यह स्पष्ट हुआ कि यह उपयोगी नहीं है।

### शोध की जरूरत

आज भारत में आर्थिक विकास को विकास का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। ऐसे में बीमारु राज्य के रूप में स्थापित हिंदी पट्टी के राज्यों के सबसे प्रभावी जनसंचार माध्यम (हिंदी समाचार पत्रों) का वैचारिक पक्ष अपनी भूमिका का निर्वहन किस तरह से कर रहा है यह जानना आवश्यक हो जाता है।

‘प्रगति का प्रायोजित विमर्श शीर्षक आलेख में जापान में नाभिकीय ऊर्जा प्रतिष्ठान में विष्फोट के संदर्भ में यह दृष्टिकोण को रखा गया है कि उच्च तकनीक और उस पर आधारित आधुनिक विकास के तंत्र पर शक नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इस बात पर ही शक किया जाना चाहिए ‘कि कहीं पूंजी और विज्ञान-तकनीक के गठजोड़ ने मनुष्य की भावनात्मक संरचना को ही तो नहीं गड़बड़ा दिया है, जहां वह संवेदनहीनता की एक ऐसी भावदशा में पहुंच गया है जिसमें बुरी से बुरी आपदा उसे अपनी जीवनशैली पर पुनर्विचार करने के लिए प्रोत्साहित नहीं कर पाती।’<sup>1</sup>

वर्तमान विकास की प्रक्रिया के पहले यानी औद्योगिक क्रांति से पहले की दुनिया और समकालीन जीवन की तुलना करने पर हम पाते हैं कि ‘मनुष्य की नियति और आधुनिक राज्य के

आपसी संबंध का एक खास ढर्रा दिखाई देता है। ऐसा नहीं है कि उत्पादन के संगठित और मशीनीकृत ढांचे से पहले मनुष्य का जीवन सुंदर और निरापद ही था। ऐसा कभी होता भी नहीं।<sup>2</sup> हर समाज और काल-परिस्थिति के अनुसार मनुष्य को जीविका के स्रोत खोजने के साथ जीवन का एक बड़ा आदर्श भी निर्धारित करना होता है। “लेकिन ध्यान दें कि प्रकृति में उपलब्ध संसाधनों के प्रति मनुष्य कभी इतना निर्मम और संवेदनहीन नहीं था, जितना औद्योगिक क्रांति के बाद होता गया है।<sup>3</sup> इस क्रांति के दूरगामी परिणामों पर विचार करें तो पाते हैं कि “इतिहास के प्रवाह में मनुष्य का अपने संसाधनों से विकट अलगाव हुआ है। उत्पादन की संगठित और केंद्रीकृत व्यवस्था से पहले प्रकृति और मनुष्य के बीच एक प्रत्यक्ष संबंध था। वह अपने साधनों का मालिक था, इसलिए उसे किसी शासकीय ढांचे या राज्य की केंद्रीकृत योजना का पालन नहीं करना पड़ता था।<sup>4</sup> इस प्रत्यक्ष संबंध के कारण वह प्रकृति के इन साधनों की सीमा भी समझता था। इसका अतिक्रमण करने पर परिणाम सामने आने में बहुत समय नहीं लगता था। मनुष्य उस दौर में जीवन के इन सुख-सुविधाओं से लैस नहीं था, लेकिन जीवन में इतनी जटिलताएं भी नहीं थी और उस दौर में सुख भी रहे होंगे और दुख भी।

“लेकिन गांधीजी के शब्दों में कहें तो तब मनुष्य और समाज के सामने ‘स्वराज’ की संभावना थी। बेशक शासन और फौज की ताकत के जोर पर उसकी स्वायत्तता तब भी छीनी जाती थी और उसे परतंत्र बनाया जा सकता था। पर जीवन का पूरा ढांचा विकेंद्रित होने के कारण किसी शासक या राज्य के पास उतने संसाधन ही नहीं सकते थे कि व्यक्ति के मन और जीवन की बुनियादी गति या उसके तर्क को हमेशा के लिए बदला जा सके।<sup>5</sup> लेकिन पिछले डेढ़ सौ सालों में मनुष्य और प्रकृति का यह समीकरण बुनियादी रूप से बदल गया है।

अब तो स्थिति यह है कि “आदमी और प्रकृति के बीच राज्य का महाकाय तंत्र है, जो गांधीजी से शब्द उधार लेते हुए कहें तो एक आत्माहीन मशीनरी की तरह काम करता है।<sup>6</sup> यह तंत्र इतना विराट, जटिल, अजनबी और बहुपरती है कि जिसमें ऐसा लगता है कि वह लोगों की सेवा कर रहा है, लेकिन इसके बदल यह स्वेच्छाचारी संगठन बन चुका है। यह सिर्फ अपने तर्क के अलावा किसी और की दलील नहीं सुनता।

राज्य का यह ढांचा इस प्रकार तकनीक-केंद्रित होता जा रहा है “कि उसमें तकनीक को न जानने-समझने वाले कमजोर और असंगठित लोगों की आवाज पहुंच नहीं सकती। इस तरह जब कोई सरकार राष्ट्र-कल्याण या विकास के नाम पर जनता के पक्ष की अनसुनी करती है तो उसमें दंभ का यह भाव होता है कि राज्य जनता से बेहतर जानता है कि समाज के लिए क्या ठीक है और क्या गलत है।<sup>7</sup> भारत सरकार द्वारा पोस्को से लेकर जैतापुर के प्रस्तावित नाभिकीय संयंत्र तक के मामले में जनता के विरोध को दरकिनार किया जाना, यह साबित करने की पुरजोर कोशिश है कि उक्त योजनाएं राष्ट्र-हित में हैं। “गौर करने की बात है कि दुनिया में शासन का यह केंद्रीकृत ढांचे हर कहीं विज्ञान और तकनीक के सहारे चलाया जाता है, जिसमें असमानताओं, वंचनाओं और व्यक्ति की

परतंत्रता का यह पिरामिड लगातार ऊंचा होता जाता है।<sup>8</sup> दिखावे के लिए स्थानीय स्तर पर कई तरह के स्वशासी निकायों की व्यवस्था की जाती है, जबकि वास्तविक सत्ता, शीर्ष के पास ही होती है। ऐसे में जब हम मार्क्सवाद की ओर समाधान के लिए निगाह डालते हैं तो हम पाते हैं कि इसकी बुनियादी प्रस्थापना में शोषण से मुक्ति, गैरबराबरी को दूर करने और अंततः राज्य के उन्मूलन का प्रस्ताव तो है, लेकिन इसके बावजूद विकास की अवधारणा के मामले में वह भी पूंजीवाद से बहुत अलग नहीं है। “उसमें और पूंजीवाद में शायद एक बुनियादी फर्क प्रबंधन का ही है। यह इसलिए क्योंकि पूंजीवाद भी एक तरह के रेखीय विकास में ही यकीन करता है, जिसका अनिवार्य मतलब प्रकृति के संसाधनों का अनियंत्रित दोहन ही होता है।<sup>9</sup> मार्क्सवाद सिर्फ समाज और प्रकृति के साधनों को सामूहिक नियंत्रण और समतापूर्ण उपभोग की व्यवस्था के अंतर्गत ले आता है। लेकिन दोनों ही दृष्टियों में मनुष्य एक भावनात्मक सत्ता के बजाय एक अमूर्त संसाधन में बदल जाता है जिसे विकास के एकरेखीय ढांचे में जोत दिया जाता है। “यानी दोनों ही व्यवस्थाओं में मनुष्य स्वयं में कर्ता न होकर उनका कार्यकर्ता बन जाता है। नतीजतन उसकी स्वायत्तता और विवेक गौण हो जाते हैं।<sup>10</sup>

पिछली सदी से अब तक विज्ञान और पूंजीवाद को साध कर आधुनिक राज्य लगातार सर्वसत्तावादी होता गया है। लेकिन इस मनुष्य-विरोधी तंत्र में विज्ञान की भूमिका बताना विज्ञान के खिलाफ तर्क गढ़ना नहीं है। “प्रागैतिहासिक काल में आग का आविष्कार और पहिए का निर्माण भी विज्ञान के ही उदाहरण हैं जिससे मनुष्य का जीवन सरल और आसान हुआ। लेकिन जब से विज्ञान और बड़ी पूंजी का गठजोड़ हुआ है, मनुष्य के पूरे भाव तंत्र में एक ऐसा विपर्यय पैदा हुआ है जो समय के साथ लगातार अनियंत्रित होता गया है। इसका एक परिणाम मनुष्य की विज्ञान-चेतना के मुनाफे और सत्ता की असीम लिप्सा के रूप में देखा जा सकता है।<sup>11</sup> इसका दूसरा परिणाम आदमी के अपने जीवन से संबंधित निर्णय लेने की आजादी भी छिन गई है। अब योजनाकार बताते हैं कि सुख या विकास क्या होता है और उस पर ज्यादातर लोग आंख मूंद कर यकीन कर लेते हैं। विगत डेढ़-दो सौ वर्षों के दौरान औद्योगिक पूंजी द्वारा विज्ञान के अपहरण का दूरगामी परिणाम यह हुआ है कि जो विज्ञान पूरी इंसानियत के लिए सुख पैदा करने में सक्षम हो सकता था, उसे केवल निजी मुनाफे और एक वर्ग के सुख और आराम का औजार बना दिया गया है। जबकि दुनिया में आदमी की भोजन, आवास और पानी की बुनियादी आवश्यकताएं आज भी पूरी नहीं की जा सकी हैं।

आज वैज्ञानिक सोच और तकनीकी प्रगति के तमाम दावों के बावजूद आम आदमी का विवेक पहले से ज्यादा कमजोर हो गया है। आज उसे विज्ञापन का संगठित उद्योग बताता है कि वह क्या खाए, क्या पहने और कैसे जीवन जिए। और स्थिति यह बन रही है कि व्यक्ति और समाज दोनों इस न्यस्त प्रचार को आदेश की तरह मानने लगते हैं। “इस तरह देखा जाए तो क्या आज जिसे विकास कहा जाता है वह दरअसल मनुष्य से उसकी स्वायत्तता छीनने का जतन नहीं है?<sup>12</sup>

‘विकास की राजनीति’ आलेख वर्तमान विकास के मानकों की कमियों को उजागर करने का प्रयास कर रहा है। आज हमें बार-बार बताया जा रहा है कि देश का विकास हो रहा है, “लेकिन समस्या यह है कि विकास के जिन तरीकों को देश में अपनाया जा रहा है और जिसे विकास बताया जा रहा है, उसके विरोध में आबादी का एक बड़ा हिस्सा खड़ा है। उनका प्रश्न रोजगार, जमीन अधिग्रहण और विस्थापन जैसे मुद्दों के साथ जुड़ा है।”<sup>13</sup> विकास के मौजूदा मॉडल में एक बड़ी आबादी को दरकिनार किया जाता है। इसी का परिणाम कारखानों और सेजों के विरोध में देश के कुछ हिस्सों में लंबे समय से हो रहे संगठित आंदोलन हैं। टाटा और वेदांत को हटाया जाना उदार जनोन्मुखी फैसला नहीं था, बल्कि यह लोगों का दबाव था। “असल में, राज्य अपनी नीतियों के जरिए ही विरोध की राजनीतिक जमीन तैयार कर रहा है। ‘कल्याणकारी राज्य’ की संकल्पना के साथ तो राज्य जनता के बीच उपस्थित है, लेकिन अधिकतर मौकों पर वह जन आकांक्षाओं के विरुद्ध चला जाता है। जनता की इच्छाओं और राज्य की इच्छाओं के बीच का जो फर्क है, उसी को मिटाने के लिए जनता सड़कों पर उतरती है। यह फांक जितनी बड़ी होगी विरोध उतना ही अधिक होगा और राज्य के कल्याणकारी होने की स्थापना भी उतनी ही अधिक दरकेगी।”<sup>14</sup>

स्थानीय लोग अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक जमीन बचाये रखना चाहते हैं जिसे उन्होंने लंबे समय में विकसित की है। “सामाजिक-सांस्कृतिक आधार और आर्थिक पूंजी में से राज्य द्वारा अर्थ को प्राथमिकता देने का जो आग्रह जाहिर हो रहा है, वह उस तमाम गरीब जनता के लिए जुगुप्सा पैदा करने वाला है जो सिर्फ सामाजिक-सांस्कृतिक पूंजी की बदौलत जीवन जी रही है। राज्य द्वारा दोहरे स्तर पर ऐसे प्रयास हो रहे हैं।”<sup>15</sup> राज्य की नीतियों में पूंजी की वैश्विक तरलता को विकास के रूप में प्रस्तुत किया और इसी व्यवस्था को वास्तविक संस्कृति बताया जा रहा है। “विकास के नाम पर जब जमीन का अधिग्रहण होता है, लोगों से राज्य कहता है कि वह उसका हर्जाना देने को तैयार है तो विस्थापित होने में लोगों को दिक्कत नहीं महसूस करनी चाहिए। इस सिलसिले में समूची ऐतिहासिक बसावट के सवाल को विकास के नारों तले दबा दिया जाता है।”<sup>16</sup> इसमें सभी पार्टियां एकमत दिखती हैं। विकास अपने-आप में एक राजनीति है। इसलिए विकास योजनाओं को लेकर इन राजनीतिक दलों के बीच की फांक मिटी हुई है।

पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा नियोजित विकास के आधार पर विकासशील से विकसित बनने की नीति पर चलते देश के राजनीतिक नेतृत्व ने एक खास समय-सीमा निर्धारित कर रखी है, जिस पर चलते हुए इसे विकसित हो जाना है। जिसे भारतीय जनता में स्थापित किया जा रहा है। “अब कोई भी राजनीतिक दल अगर इस समय-सीमा को आगे बढ़ाने की घोषणा करेगा या विकास की जो तस्वीर उसमें पेश की गई है उसके मुतल्लिक यह कहेगा कि वहां पहुंचने का दूसरा रास्ता अधिक महफूज है तो वोट की गोलबंदी में वह पीछे रह जाएगा। ऐसा इसलिए होगा, क्योंकि विकास की लोकप्रिय परिभाषा के तौर पर मध्यवर्ग के सामने जो खाका तैयार किया गया है वह गणितीय तौर



पर समस्याओं का समाधान करता दिखता है।<sup>17</sup> इसके कारण विकास का मौजूदा प्रतिमान को और अधिक मजबूती मिलती है।

‘अनैतिक है धीमा विकास’ आलेख में लेखक ने चीन के विकास दर को रेखांकित करते हुए भारत के विकास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। वे पर्यावरण और ऊंची विकास दर के बीच संतुलन स्थापित करने की बात करते हैं। “कोई राष्ट्र दोनों को एक साथ साध सकता है कि वह तेजी से विकास करे और पर्यावरण को भी बचा कर रखे, जैसे कि स्त्री एक साथ दोनों हो सकती है, सुंदर भी और वफादार भी। वस्तुतः विकास का तर्कसंगत तरीका ही है जो प्रकृति के साथ सामंजस्य और शांति स्थापित कर सकता है और धरती की वह हरी-भरी तसवीर भी बनाये रख सकता है, जिस पर कि यह निर्भर है।<sup>18</sup> धीमी गति से विकास अनैतिक है। दो सौ सालों के इतिहास को देखने पर हम पाते हैं कि आर्थिक विकास के द्वारा गरीब विकास करके मध्य वर्ग में तब्दील हो सकता है। ‘विकास नौकरियां और संपन्नता पैदा करता है। सरकार इस संपन्नता से टैक्स वसूलती है, जिसे शिक्षा और स्वास्थ्य आदि पर खर्च करती है। नौकरियां, शिक्षा और स्वास्थ्य तक गरीबों की पहुंच उनके उत्थान का कारण बनती है। पिछले 25 सालों में तेज विकास के कारण ही चीन में 350 मिलियन और भारत में 225 मिलियन लोग गरीबी से बाहर निकले हैं।<sup>19</sup>

लेखक पर्यावरण आंदोलनों को विकास में बड़ी रूकावट के रूप में देख रहे हैं। उन्होंने इसे विकास-विरोधी, विज्ञान-विरोधी, बताया है। वे मानते हैं कि अगर ये आंदोलन 60 के दशक में होते, तो ‘हरित क्रांति’ का गला घोट दिया जाता। ‘हरित क्रांति से देश में गेहूं उत्पादन छह गुना और चावल उत्पादन तीन गुना हुआ। इस महान कायापलट ने 50 करोड़ अतिरिक्त भारतीयों को भूख से उबारा। 60 के दशक में पर्यावरण कार्यकर्ताओं ने इसका भी विरोध किया था, लेकिन सरकार ने उनकी नहीं सुनी।<sup>20</sup>

‘दावोस में सब्सिडी के दुश्मन आलेख में सरकार की दोहरी नीति को सामने लाया गया है। एक ओर सरकार कहती है कि आबादी के गरीब तथा हाशिये पर पड़े हिस्सों का सशक्तीकरण किया जाए, ताकि वे भी राष्ट्र के विकास की कहानी का हिस्सा बन सकें। दूसरी ओर दावोस में देश के प्रतिनिधि वर्ल्ड इकोनॉमिक फोरम में इस आशय के बयान दे रहे थे कि हमारे देश में गरीबों को जो थोड़ी-बहुत सहूलियतें मिली हुई हैं उन्हें भी वापस लिया जाये। “यह वास्तव में उस बुनियादी अंतर्विरोध को ही दिखाता है, जो हमारे गणराज्य के जन्म के साथ ही जुड़ गया था। संविधान सभा में हमारे संविधान का मसौदा पेश करते हुए डॉक्टर बी. आर. अंबेडकर ने इसी अंतर्विरोध के बारे में चेताया था।<sup>21</sup> “25 नवंबर, 1949 को अंबेडकर ने जो बातें कही थीं, हम यहां दोबारा याद दिलाना चाहेंगे: 26 जनवरी, 1950 को हम एक अंतर्विरोधों से भरे जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। हमारे यहां राजनीति में बराबरी होगी और सामाजिक व आर्थिक जीवन में विषमता रहेगी। राजनीति में हम एक व्यक्ति, एक वोट और एक मूल्य का सिद्धांत स्वीकार कर रहे होंगे। अपने सामाजिक व आर्थिक जीवन में हम अपने सामाजिक व आर्थिक ढांचे के तर्क से एक व्यक्ति एक मूल्य के सिद्धांत को

नकारने की प्रक्रिया जारी रखेंगे। आखिर हम कब तक अपने सामाजिक व आर्थिक जीवन में समता को नकारते रहेंगे? अगर हम ज्यादा समय तक उसे नकारते रहते हैं, हम अपने राजनीतिक जनतंत्र को खतरे में डालकर ही ऐसा कर रहे होंगे। हमें इस अंतर्विरोध को जल्दी से जल्दी खत्म करना होगा, वरना जो लोग असमानता की मार झेल रहे हैं, वे राजनीतिक जनतंत्र के उस ताने-बाने को तार-तार कर देंगे, जिसे इस सभा ने इतने श्रम से खड़ा किया है।<sup>22</sup> लेकिन आजादी के छह दशकों के बाद भी ये असमानता कम होने के बजाय बढ़ती जा रही है। गरीब श्रमिकों को पूरी तरह से उद्योगपतियों के हवाले किए जाने की प्रक्रिया जारी है और यह प्रयास किया जा रहा है कि किसी भी प्रकार का श्रम कानून कारगर न रह जाए और वे शोषण और बदहाली के बल पर अपना मुनाफा और बढ़ा सकें। “प्रधानमंत्री के एक आर्थिक सलाहकार ने तो मांग भी की है कि आम जनता के लिए दी जाने वाली तमाम सब्सिडियां लगभग खत्म कर दी जाएं।”<sup>23</sup> ऐसी स्थिति में एक जनकल्याणकारी राज्य की सोच ही खत्म हो जाएगी।

नव-उदारवाद के समर्थक उन भीमकाय रियायतों पर चुप्पी साधे रहते हैं, जो कॉरपोरेट क्षेत्र और धनकुबेरों पर लुटाई जाती रही हैं। “2010 के ही बजट दस्तावेजों में यह बताया गया था कि भारत सरकार द्वारा माफ किया गया कर राजस्व, बहुत ज्यादा तो है ही, तेजी से बढ़ भी रहा है। जहां वित्त वर्ष 2008-09 में छोड़ा गया कर राजस्व सकल कर संग्रह के 68.59 फीसदी हिस्से के बराबर था, वहीं 2009-10 में यह बढ़कर 79.54 प्रतिशत हो चुका है। इसका अर्थ यह हुआ कि पिछले वित्त वर्ष में सरकार के कर राजस्व के करीब 80 प्रतिशत हिस्से के बराबर की राशि तो कॉरपोरेट क्षेत्र से बसूली ही नहीं गई यानी इस क्षेत्र को सब्सिडी के तौर पर इतनी बड़ी मदद दी गई।”<sup>24</sup> आम जनता को ठगने के लिए इस तरह की भारी रियायतों को विकास के लिए जरूरी ‘प्रोत्साहन’ बताया जाता है। जबकि दूसरी ओर, गरीबों तथा जरूरतमंदों को दी जाने वाली रियायतों को हमेशा ‘सब्सिडी’ कहा जाता है और सब्सिडी को अर्थव्यवस्था तथा आर्थिक विकास के लिए खराब बताया जाता है। इस तरह के दोहरेपन को मंजूर नहीं किया जा सकता है और वह भी जनता के विशाल बहुमत की कीमत पर। “इसलिए अब समय आ गया है कि नीति निर्धारकों को बाबा साहब अंबेडकर की चेतावनी याद दिलाई जाए और देश की आर्थिक नीति की दिशा में आमूल-चूल बदलाव किया जाए।”<sup>25</sup>

‘कुएं एवं खाई के बीच श्रम सुधार’ आलेख में लेखक ने श्रमसुधार किए जाने की सरकार की मंशा को सरकार की जल्दबाजी बताया है। सही है कि रोजगार सृजन के लिए श्रमसुधार जरूरी है, परंतु श्रमसुधार मात्र से रोजगार उत्पन्न होंगे, इसमें संशय है। यह भी संभव है कि श्रमसुधार की आड़ में केवल संगठित श्रमिकों के वेतन में कटौती हो।<sup>26</sup> आंकड़े बताते हैं कि तकनीक के विकास ने रोजगारों में भारी कमी की है। संगठित क्षेत्र में श्रमिकों की संख्या 1997 में 282 लाख से घटकर 2005 में 264 लाख रह गई। “आर्थिक प्रगति और रोजगार का यह परस्पर अंतर्विरोध विकास की प्रक्रिया में निहित है। आर्थिक प्रगति का अर्थ होता है पूंजी की वृद्धि। अधिक मात्रा में उपलब्ध होने से पूंजी सस्ती हो जाती है, बिल्कुल उसी तरह जैसे मंडी में आलू ज्यादा आने से सस्ता हो जाता

है।<sup>127</sup> आगे स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार पूंजी में वृद्धि होने पर मशीनीकरण के द्वारा रोजगार में कमी की जाती है।

श्रम कानूनों के दो परस्पर विरोधी प्रभाव सामने हैं। एक ओर तो संगठित क्षेत्र के 3 करोड़ श्रमिकों के लिए ये वरदान है जिन्हें वेतन, जॉब सिक्योरिटी तथा प्रॉविडेंट फंड जैसी सुविधाएं मिल जाती हैं। लेकिन अन्य 60 करोड़ श्रमिकों को यह हानि इस रूप में पहुंचाता है कि “श्रम कानूनों के कारण उद्यमी द्वारा मशीनों का प्रयोग अधिक एवं श्रम का कम किया जाता है। जो रोजगार उत्पन्न हो सकते थे, उनसे ये वंचित हो जाते हैं।”<sup>28</sup>

इस विषय प्रोफेसर एडमंड फेलेप्स मानते हैं “कि श्रम सुधार में ‘समस्या यह है कि इससे बेरोजगारी दूर नहीं हो सकती। इससे न्यून वेतन प्राप्त करने वाले अकुशल श्रमिकों को ऊंचे वेतन प्राप्त करने वाले कुशल श्रमिकों में परिणत नहीं किया जा सकता है।’ फेलप्स के अनुसार श्रम बाजार में वेतन पहले ही इतने न्यून हैं कि श्रमिकों के लिए जीवन यापन कठिन हो रहा है और उनका मनोबल टूट रहा है। ऐसे में उद्यमियों को श्रमिकों को बर्खास्त करने का अधिकार देने अथवा न्यूनतम कानून समाप्त करने से श्रमिकों की स्थिति और बिगड़ेगी।”<sup>29</sup> श्रमसुधार बेरोजगारी दूर करने वाला अस्त्र नहीं है। इसके साथ-साथ ऐसी नीतियां लागू करनी होंगी, जिससे उद्यमी के लिए बड़ी संख्या में रोजगार बनाना लाभप्रद हो जाये। प्रोफेसर फेलेप्स सब्सिडी देने का विचार रखते हैं, “कम वेतन वाले रोजगार पर सब्सिडी अधिक और ऊंचे वेतन वाले रोजगार पर सब्सिडी शून्य होनी चाहिए। ऐसा करने से उद्यमियों को कम क्षमता वाले गरीब श्रमिकों को रोजगार देना लाभप्रद हो जा जायेगा। इससे ज्यादा संख्या में रोजगार बनेंगे।”<sup>30</sup> ऐसे में रोजगार सृजन के प्रोत्साहन के साथ-साथ श्रम सुधार किये जाने चाहिए। अगर ऐसा नहीं हुआ तो यह श्रम सुधार समाज को जला सकता है।

‘पिछड़े रखने की मंशा’ संपादकीय में आदिवासी लोगों को कर्ज न मिलने की समस्या पर प्रकाश डालते हुए आर्थिक उदारीकरण के दो दशक को देखने का प्रयास किया गया है। “इस दौर में आदिवासियों व भूमिपुत्रों को कंगाल बनाने वाली तमाम नीतियों को बेहिचक अपनाने में सत्ता प्रतिष्ठानों ने गुरेज नहीं किया। आज के आर्थिक दौर में जमीन के मालिक होने के बावजूद आदिवासियों को कर्ज देने से बैंकों का इनकार वर्तमान सत्ता का चरित्र भी बताता है। बैंकों ने आदिवासियों को कर्ज नहीं मुहैया कराने के जो कारण गिनाये व बताये हैं, वे आदिवासियों के खिलाफ साजिश का भी पर्दाफाश करते हैं।”<sup>31</sup> यह विडंबना ही है कि आदिवासियों के जमीन को बचाये रखने के लिए गुलामी के दिनों में बनाये गये कायदे-कानून का सहारा लिया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गरीब को और गरीब रखने की मानसिकता आज भी काम कर रही है।

‘आय में निर्मम फासले’ आलेख में भारत के 2020-25 तक विश्व की दूसरी महाआर्थिक शक्ति बनने के स्वप्न का विश्लेषण किया गया है। देश आर्थिक मंदी, मंहगाई और वैश्विक उतार चढ़ाव के बावजूद आगे बढ़ रही है। “देश में करोड़पतियों, अरबपतियों और खरबपतियों की आबादी भी बढ़ रही है। 20 से 25 करोड़ के तथाकथित ‘ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास’ के अस्तित्व में आने का दावा भी



किया जा रहा है। अब भारत को अमीर राष्ट्रों के समूह (जी-8, जी-20 आदि) में शामिल होने का न्योता भी दिया जाता है। संयुक्त राष्ट्र में सुरक्षा परिषद के हम प्रबल दावेदार बन चुके हैं। विगत दो दशकों में वैश्वीकरण, निजीकरण, उदारीकरण और विनिवेशीकरण का अश्वमेध अबाध गति से चल रहा है। ये सब उपलब्धियां स्वागतयोग्य हैं।<sup>32</sup> लेकिन इसका दूसरा पक्ष भी है। “न्यूनतम वेतन तथा अधिकतम वेतन में 50 से लेकर 10 हजार गुना तक अंतर है। असंगठित क्षेत्र में प्राप्त न्यूनतम मासिक वेतन और संगठित (सरकारी व निजी) क्षेत्र के न्यूनतम व अधिकतम वेतनों के बीच मौजूद फासला अमानवीयतम तथा बर्बरतम स्तर तक पहुंच गया है।”<sup>33</sup> “संगठित क्षेत्र के अधिकारियों और कर्मचारियों को मिलने वाली दूसरी सुविधाओं के बारे में तो असंगठित क्षेत्र के श्रमिक सोच भी नहीं सकते हैं।

“राज्य का एजेण्डा अब ‘लाभ विकास न वृद्धि’ का है, न कि ‘मजदूरी वृद्धि’ का। यह सच भी है कि क्या आज कोई श्रमिक नागरिक 100 रुपए से लेकर 200 रुपए प्रतिदिन की मजदूरी पर सम्मानजनक ढंग से जी सकता है? संविधान में स्पष्ट प्रावधान है कि गरिमापूर्ण जीवन निर्वाह योग्य न्यूनतम वेतन होना चाहिए। इस जीवन निर्वाह में आधारभूत आवश्यकताएं (आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, पेय जल और अन्न) शामिल हैं। क्या न्यूनतम वेतन में यह सब संभव है?”<sup>34</sup> आज असंगठित श्रमिकों को न तो सरकारी क्षेत्र में नियमित काम मिल रहा और न ही निजी क्षेत्र के नियोक्ता उसे नियमित काम दे पा रहे हैं। यह श्रम क्षेत्र में तनाव पैदा कर रहा है। “इसीलिए अब गरिमापूर्ण जीवन निर्वाह के लिए ‘युक्तिसंगत न्यूनतम वेतन’ की मांग राष्ट्रीय स्तर पर उठ रही है। स्थिति बेकाबू होने से पहले असंगठित श्रमिक क्षेत्र की तरफ ध्यान दिया जाना चाहिए।”<sup>35</sup>

‘राजधानी के उपेक्षित हिस्से’ संपादकीय में देश की राजधानी है दिल्ली के पूर्वी, पश्चिमी व बाहरी दिल्ली के अधिकांश इलाकों के बुरे हालात को सामने लाया गया है। “यह इन इलाके में रह रहे लोगों का दुर्भाग्य ही है कि राजधानी का हिस्सा होने के बावजूद इन इलाकों में राजधानी जैसी सुविधाएं नहीं हैं। इन इलाकों के लोग इस तरह जीने को मजबूर हैं, जैसे ये राजधानी नहीं देश के किसी दूरदराज के इलाके में रह रहे हों।”<sup>36</sup>

इस संपादकीय में आगे दिल्ली की समस्याओं को रेखांकित किया गया है और इसके दोरंगे चेहरे को बताया गया है। “राजधानी ऐसी होनी चाहिए जो हर हिस्से में जाने पर राजधानी ही लगे। वहां सीवर, पानी और सड़क को लेकर कोई मूलभूत समस्याएं न हों और वहां के लोग भी खुद को गर्व से राजधानीवासी कह सकें।”<sup>37</sup>

## निष्कर्ष

इससे यह स्पष्ट होता है कि हिंदी के समाचार पत्रों ने देश के विकास में उन कमियों को उजागर करने का प्रयास किया है जिसे दूर कर ही सबों का विकास संभव है। अखबारों ने भ्रमंडलीकरण के बाद अपनाई गई विकास नीति भारतीय परिप्रेक्ष्य में सफल नहीं होने की बात को

माना है। इसमें बार-बार सरकार की नीतियों एवं वर्तमान विकास के मॉडल जिसमें निजीकरण, उदारीकरण और बाजारीकरण को बढ़ावा दिया गया है, पर प्रश्नचिन्ह खड़े किये गए हैं। समाचार पत्रों की विकास दृष्टि गांधी और विनोबा की विकास दृष्टि से प्रेरित दिखती है।

किसी भी विकास के मॉडल में यह आवश्यक है कि वह देश में गरीबी को भले ही न मिटा सके, लेकिन उसमें कमी तो जरूर आए। लेकिन हमारे समाचार पत्र वर्तमान विकास के मॉडल में इसे नहीं देख पा रहे हैं। 'गरीबी का पैमाना' संपादकीय में देश में गरीबी के आकलन के तौर-तरीकों पर चर्चा की गई है। "तमाम अर्थशास्त्रियों का यह मानना है कि गरीबी का जो पैमाना हमने अपना रखा है उससे पूरी सच्चाई सामने नहीं आती। लेकिन सरकार और योजना आयोग उनकी अनसुनी करते रहे हैं। यही नहीं, अब योजना आयोग ने एक ऐसा विचित्र फरमान जारी किया हुआ है जिसकी कोई तुक नहीं हो सकती। उसने राज्यों से कहा है कि वे गरीबी रेखा से नीचे की आबादी को छत्तीस फीसद तक सीमित रखें।"<sup>38</sup> सुप्रीम कोर्ट ने भी इस पर हैरत जताई है। देश के विभिन्न राज्यों के बीच बहुत अंतर है। आखिर बिहार, झारखंड या छत्तीसगढ़ में गरीबी रेखा से नीचे की आबादी का अनुपात एवं गुजरात, केरल या कर्नाटक में समानता कैसे हो सकती है। सुप्रीम कोर्ट ने यह भी पूछा है कि आज के समय में ग्रामीण इलाकों में बारह रुपए और शहरों में सत्रह रुपए रोजाना की कमाई गरीबी रेखा की कसौटी कैसे हो सकती है? यह कैसे तर्कसंगत हो सकता है। सरकार ने गरीबी रेखा से नीचे की वास्तविक जनसंख्या जानने के मकसद से तीन समितियां गठित कीं। इनके अध्ययन का निष्कर्ष यह सामने आया कि गरीब आबादी का दायरा केन्द्र सरकार के अनुमान से ज्यादा है। विभिन्न राज्यों के सर्वेक्षण भी यही कहते हैं। ऐसे में 36 प्रतिशत की सीमा तय कर हमारे नीति नियंता और योजनाकार गरीबों की संख्या को न सिर्फ कम करके बल्कि उसे लगातार घटते हुए दिखाना चाहते हैं, ताकि प्रचलित नीतियों की सार्थकता नजर आए। वे बीपीएल परिवारों पर होने वाला योजनागत व्यय भी कम करना चाहते हैं। इसी के कारण गरीबी रेखा के 2004 के मापदंड को आज भी माना जा रहा है। "जबकि इस बीच सरकारी बाबुओं की तनख्वाहों और भत्तों में कई बार बढ़ोतरी हुई है, संगठित निजी क्षेत्र की आय में भी इजाफा होता गया है। सांसदों और विधायकों के वेतन कई गुना बढ़े हैं। लेकिन गरीबों की बेहतरी के बारे में सोचने के बजाय आंकड़ों में उनकी संख्या जहां तक हो सके घटा कर दिखाने की कोशिश हो रही है, इसलिए कि अगर सच्चाई सामने आती रहेगी तो कहीं देर-सबेर नीतियों और प्राथमिकताओं में बदलाव की मांग न उठने लगे।"<sup>39</sup> संयुक्त राष्ट्र की मानव विकास रिपोर्ट भारत में अधिकांश आबादी की बढ़हाली को हर वर्ष वयां करती है। दूसरे अध्ययनों से भी इसकी पुष्टि होती है। ऐसे में सरकार को इस हकीकत को स्वीकार करनी चाहिए।

## संदर्भ सूची

<sup>1</sup> प्रगति का प्रायोजित विमर्श- नरेश गोस्वामी, सं.आ., जनसत्ता, 31 मार्च 2011

- 2 वही
- 3 वही
- 4 वही
- 5 वही
- 6 वही
- 7 वही
- 8 वही
- 9 वही
- 10 वही
- 11 वही
- 12 वही
- 13 विकास की राजनीति- दिलिप खान, सं.आ., जनसत्ता, 22 मार्च, 2011
- 14 वही
- 15 वही
- 16 वही
- 17 वही
- 18 अनैतिक है धीमा विकास- गुरचरण दास, सं.आ., प्रभात खबर, 12 मार्च 2011
- 19 वही
- 20 वही
- 21 दाबोस में सब्सिडी के दुश्मन सीताराम येचुरी, सं.आ., हिंदूस्तान, 1 फरवरी 2011
- 22 वही
- 23 वही
- 24 वही
- 25 वही
- 26 कुएं एवं खाई के बीच श्रम सुधार- डा. भरत झुनझुनवाला, सं.आ., प्रभात खबर, 8 फरवरी 2011
- 27 वही
- 28 वही
- 29 वही
- 30 वही
- 31 पिछड़े रखने की मंशा, सं., प्रभात खबर, 15 मार्च, 2011
- 32 आय में निर्मम फासले- रामशरण जोशी, सं. आ., राजस्थान पत्रिका, 28 जनवरी, 2011

- 33 वही  
34 वही  
35 वही  
36 राजधानी के उपेक्षित हिस्से, सं., दैनिक जागरण, 6 फरवरी 2011  
37 वही  
38 गरीबी का पैमाना, सं., जनसत्ता, 31 मार्च 2011  
39 वही